अध्यात्म त्रि-पाठ संग्रह

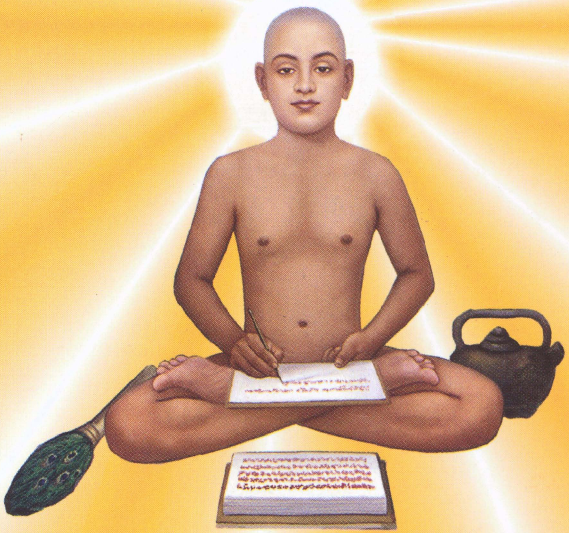

योगसार

समाधितन्त्र

इष्टोपदेश

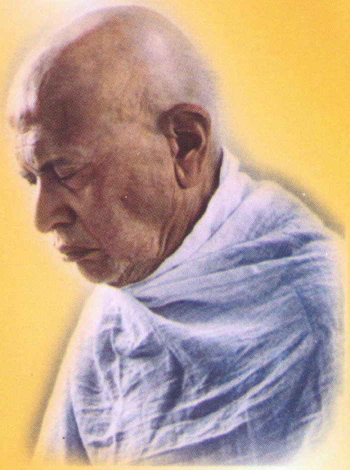

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

अध्यात्म त्रि-पाठ संग्रह

श्रीमद् योगीन्द्रदेव द्वारा रचित योगसार एवं
श्रीमद् पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित
समाधितन्त्र एवं इष्टोपदेश
ग्रन्थ की गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद

सङ्कलन
पण्डित कैलाशचन्द जैन
अलीगढ़

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 2000 प्रतियाँ

[मङ्गलायतन विश्वविद्यालय में आयोजित, श्री आदिनाथ जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के पावन अवसर पर (दिनाङ्क 16 से 23 दिसम्बर 2010) प्रकाशित]

न्योछावर राशि : रुपये 05.00

Available At -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

श्रीमद् योगीन्द्रदेव द्वारा रचित 'योगसार' एवं श्रीमद् पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थ – समाधितन्त्र और इष्टोपदेश की गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद 'अध्यात्म त्रि–पाठ संग्रह' साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

मङ्गलायतन विश्वविद्यालय में निर्मित श्री महावीरस्वामी जिनमन्दिर के भव्य पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर आयोजित ज्ञानाराधना यज्ञ के अन्तर्गत गाथा पाठ भी एक प्रमुख कार्यक्रम है। गाथा पाठ करते समय सभी के हाथ में पुस्तक रहे – तदर्थ यह प्रकाशन किया जा रहा है। विदित हो कि इन तीनों ग्रन्थों के गाथा पाठ हमारे यहाँ संगीतमयरूप से सी.डी. में भी उपलब्ध है।

इनका संकलन मेरे पूज्य पिताश्री एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्य भक्त पण्डित कैलाशचन्द जैन ने किया है। उन्होंने इसे संक्षिप्त अर्थ सहित संकलित किया था, जिसे हम पाठ की सुविधा हेतु मात्र गाथा के अनुवादरूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रकाशन का उपयोग कर अपना उपयोग जिनवाणी में रमायें – ऐसी भावना है।

पवन जैन

मुनिदशा प्रगट करने का मनोरथ

मुनिराज की देह छूट जाए तो वहाँ रोनेवाला कोई नहीं है। रोनेवाला होगा कौन? कोई नहीं। मुनिराज तो गुफा के मध्य अन्तर आनन्द में स्थित होते हैं। अहा! देखो, ऐसा मुनिपना!! वह एक वस्तु स्थिति है - ऐसी दशा प्रगट करनी पड़ेगी। प्रभु! इसके बिना मुक्ति नहीं होगी। भाई! अकेले सम्यग्दर्शन और ज्ञान से कहीं मुक्ति नहीं हो जाती। श्रावक को तीन मनोरथ होते हैं - 1. कब परिग्रह का परित्याग करूँ, 2. कब मुनिपना अङ्गीकार करूँ और 3. कब संसार से छूटूँ? मुनिराज, परीषह और उपसर्ग आने पर प्रचुर पुरुषार्थपूर्वक निज ज्ञायक का अवलम्बन लेते हैं। श्रावक को अन्दर से ऐसी पवित्र मुनिदशा प्रगट करने का मनोरथ वर्तता है।

(आत्मधर्म, वर्ष सोलहवाँ, वीर निर्वाण सम्वत् 2486)

योगसार

निर्मल ध्यानारूढ़ हो, कर्म कलंक नशाय।
हुये सिद्ध परमात्मा, वन्दत हूँ जिनराय॥ १॥

चार घातिया क्षय करि, लहा अनन्त चतुष्ट।
वन्दन कर जिन चरण को, कहूं काव्य सुइष्ट॥ २॥

इच्छक जो निज मुक्ति का, भव भय से डर चित्त।
उन्हीं भव्य सम्बोध हित, रचा काव्य इक चित्त॥ ३॥

जीव काल संसार यह, कहे अनादि अनन्त।
मिथ्यामति मोहित दुःखी, सुख नहिं कभी लहन्त॥ ४॥

चार गति दुःख से डरे, तो तज सब परभाव।
शुद्धात्म चिन्तन करि, लो शिव सुख का भाव॥ ५॥

त्रिविध आत्मा को जानके, तज बहिरातम रूप।
अन्तर आतम होय के, भज परमात्म स्वरूप॥ ६॥

मिथ्यामति से मोहिजन, जाने नहिं परमात्म।
भ्रमते जो संसार में, कहा उन्हें बहिरात्म॥ ७॥

परमात्मा को जानके, त्याग करे परभाव।
सत् पंडित भव सिन्धु को पार करे जिमि नाव॥ ८॥

निर्मल-निकल-जिनेन्द्र शिव, सिद्ध विष्णु बुद्ध शान्त।
सो परमातम जिन कहे, जानो हो निर्भ्रान्त॥ ९॥

देहादिक जो पर कहे, सो मानत निज रूप।
बहिरातम वे जिन कहें, भ्रमते बहु भवकूप॥ १०॥

देहादिक जो पर कहे, सो निज रूप न मान।
ऐसा जान कर जीव तू, निज रूप हि निज जान॥ ११॥

निज को निज का रूप जो, जाने सो शिव होय।
माने पर रूप आत्म का, तो भव भ्रमण न खोय॥ १२॥

बिन इच्छा शुचि तप करे, जाने निज रूप आप।
सत्वर पावे परम पद, लहे न पुनि भवताप॥ १३॥

'बन्ध-मोक्ष' परिणाम से, कर जिन वचन प्रमाण।
अटल नियम यह जानके, सत्य भाव पहचान॥ १४॥

निज रूप के जो अज्ञ जन, करे पुण्य बस पुण्य।
तदपि भ्रमत संसार में, शिव सुख से हो शून्य॥ १५॥

निज दर्शन ही श्रेष्ठ है, अन्य न किञ्चित् मान।
हे योगी! शिव हेतु अब, निश्चय तू यह जान॥ १६॥

गुणस्थान अरु मार्गणा, कहें दृष्टि व्यवहार।
निश्चय आतमज्ञान जो, परमेष्टी पदकार॥ १७॥

गृहकार्य करते हुए, हेयाहेय का ज्ञान।
ध्यावे सदा जिनेश पद, शीघ्र लहे निर्वाण॥ १८॥

जिन सुमरो निज चिन्तवो, जिन ध्यावो मन शुद्ध।
जो ध्यावत क्षण एक में, लहत परम पद शुद्ध॥ १९॥

जिनवर अरु शुद्धातम में, भेद न किञ्चित् जान।
मोक्षार्थ हे योगिजन! निश्चय से तू यह मान॥ २०॥

जिनवर सो आतम लखो, यह सैद्धान्तिक सार।
ज्ञानि इह विधि योगिजन, तज दो मायाचार॥ २१॥

जो परमात्मा सो हि मैं, जो मैं सो परमात्म।
ऐसा जानके योगीजन! तज विकल्प बहिरात्म॥ २२॥

शुद्ध प्रदेशी पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण।
सो आतम जानो सदा, लहो शीघ्र निर्वाण॥ २३॥

निश्चय लोक प्रमाण है, तनु प्रमाण व्यवहार।
ऐसा आतम अनुभवो, शीघ्र लहो भवपार॥ २४॥

लक्ष चौरासी योनि में, भटका काल अनन्त।
पर सम्यक्त्व तू नहिं लहा, सो जानो निर्भ्रान्त॥ २५॥

शुद्ध सचेतन बुद्ध जिन, केवलज्ञान स्वभाव।
सो आतम जानों सदा, यदि चाहो शिवभाव॥ २६॥

जब तक शुद्ध स्वरूप का, अनुभव करे न जीव।
जब तक प्राप्ति न मोक्ष की, रुचि तहँ जावे जीव॥ २७॥

ध्यान योग्य त्रिलोक में, जिन सो आतम जान।
निश्चय से यह जो कहा, तामें भ्रान्ति न मान॥ २८॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत स्वभाव।
व्रत-तप सब अज्ञानी के, शिव हेतु न कहाय॥ २९॥

जो शुद्धातम अनुभवे, व्रत संयम संयुक्त।
जिनवर भाषे जीव वह, शीघ्र होय शिवयुक्त॥ ३०॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत सुभाव।
व्रत-तप-संयम शील सब, निष्फल जानो दाव॥ ३१॥

स्वर्ग प्राप्ति हो पुण्य से, पापे नरक निवास।
दोऊ तजि जाने आतम को, पावे शिववास॥ ३२॥

व्रत-तप-संयम-शील सब, ये केवल व्यवहार।
जीव एक शिव हेतु है, तीन लोक का सार॥ ३३॥

आत्मभाव से आत्म को, जाने तज परभाव।
जिनवर भाषे जीव वह, अविचल शिवपुर जाव॥ ३४॥

जिन भाषित षट् द्रव्य जो, पदार्थ नव अरु तत्त्व।
कहा इसे व्यवहार से, जानों करि प्रयत्न॥ ३५॥

शेष अचेतन सर्व हैं, जीव सचेतन सार।
मुनिवर जिनको जानके, शीघ्र हुये भवपार॥ ३६॥

शुद्धातम यदि अनुभवो, तजकर सब व्यवहार।
जिन परमातम यह कहें, शीघ्र होय भवपार॥ ३७॥

जीव अजीव के भेद का, ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान।
हे योगी! योगी कहें, मोक्ष हेतु यह जान॥ ३८॥

योगी कहे रे जीव तू, जो चाहे शिव लाभ।
केवलज्ञान स्वरूप निज, आत्मतत्त्व को जान॥ ३९॥

को समता किसकी करे, सेवे पूजे कौन।
किसकी स्पर्शास्पर्शता, ठगे कोई को कौन?
को मैत्री किसकी करे, किसके साथ ही क्लेश।
जहँ देखूँ सब जीव तहँ, शुद्ध बुद्ध ज्ञानेश॥ ४०॥

सदगुरु वचन प्रसाद से, जाने न आतम देव।
भ्रमे कुतीर्थ तब तलक रे, करे कपट के खेल॥ ४१॥

तीर्थ-मन्दिरे देव नहिं, यह श्रुति केवलि वान।
तन मन्दिर में देव जिन, निश्चय करके जान॥ ४२॥

तन मन्दिर में देव जिन, जन मन्दिर देखन्त।
हँसी आय यह देखकर, प्रभु भिक्षार्थ भ्रमन्त॥ ४३॥

नहीं देव मन्दिर बसत, देव न मूर्ति चित्र।
तन मन्दिर में देव जिन, समझ होय समचित्त॥ ४४॥

तीर्थ रु मन्दिर में सभी, लोग कहे हैं देव।
बिरले ज्ञानी जानते, तन मन्दिर में देव॥ ४५॥

जरा मरण भय हरण हित, करो धर्म गुणवान।
अजरामर पद प्राप्ति हित, कर धर्मोषधि पान॥ ४६॥

शास्त्र पढ़े मठ में रहे, शिर के लुँचे केश।
धरे वेश मुनि जनन का, धर्म न पाये लेश॥ ४७॥

राग द्वेष दोऊ त्याग के, निज में करे निवास।
जिनवर भाषित धर्म वह, पञ्चम गति में वास॥ ४८॥

मन न घटे आयु घटे, घटे न इच्छा भार।
नहिं आतम हित कामना, यों भ्रमता संसार॥ ४९॥

ज्यों रमता मन विषय में त्यों ज्यों आतमलीन।
मिले शीघ्र निर्वाण पद, धरे न देह नवीन॥ ५०॥

नर्कवास सम जर्जरित, जानो मलिन शरीर।
करि शुद्धातम भावना, शीघ्र लहो भवतीर॥ ५१॥

जग के धन्धे में फँसे, करे न आतम ज्ञान।
जिसके कारण जीव वे, पाते नहिं निर्वाण॥ ५२॥

शास्त्र पाठि भी मूढ़सम, जो निज तत्त्व अजान।
इस कारण इस जीव को, मिले नहीं निर्वाण॥ ५३॥

मन इन्द्रिय से दूर हट, क्यों पूछत बहु बात।
राग प्रसार निवार कर, सहज स्वरूप उत्पाद॥ ५४॥

जीव पुद्गल दोऊ भिन्न हैं, भिन्न सकल व्यवहार।
तज पुद्गल ग्रह जीव तो, शीघ्र लहे भवपार॥ ५५॥

स्पष्ट न माने जीव को, अरु नहिं जानत जीव।
छूटे नहिं संसार से, भावे जिन जी अतीव॥ ५६॥

रत्न-हेम-रवि-दूध दधि, घी पत्थर अरु दीप।
स्फटिक रजत और अग्नि नव त्यों जानों यह जीव॥ ५७॥

देहादिक को पर गिने, ज्यों शून्य आकाश।
लहे शीघ्र परब्रह्म को, केवल करे प्रकाश॥ ५८॥

जैसे शुद्ध आकाश है, वैसे ही शुद्ध जीव।
जड़रूप जानो व्योम को, चेतन लक्षण जीव॥ ५९॥

ध्यान धरे अभ्यन्तरे, देखत जो अशरीर।
मिटे जन्म लज्जा जनक, पिये न जननी क्षीर॥ ६०॥

तन विरहित चैतन्य तन, पुद्गल तन जड़ जान।
मिथ्या मोह विनाश के, तन भी निज मत मान॥ ६१॥

निज को निज से जानकर, क्या फल प्राप्ति न पाय।
प्रगट केवलज्ञान औ, शाश्वत सौख्य लहाय॥ ६२॥

यदि परभाव को तजि मुनि, जाने आप से आप।
केवलज्ञान स्वरूप लहि, नाश करे भवताप॥ ६३॥

धन्य अहो! भगवन्त बुध, जो त्यागे परभाव।
लोकालोक प्रकाश कर, जाने विमल स्वभाव॥ ६४॥

मुनि जन या कोई गृही, जो रहे आतम लीन।
शीघ्र सिद्धि सुख को लहे, कहते यह प्रभु जिन॥ ६५॥

विरला जाने तत्त्व को, श्रवण करे अरु कोई।
विरला ध्यावे तत्त्व को, विरला धारे कोई॥ ६६॥

गृह परिवार मम है नहीं, है सुख-दुःख की खान।
यों ज्ञानी चिन्तन करि, शीघ्र करें भव हानि॥ ६७॥

इन्द्र, फणीन्द्र, नरेन्द्र भी, नहीं शरण दातार।
मुनिवर 'अशरण' जानके, निज रूप वेदत सार॥ ६८॥

जन्म-मरण एक हि करे, सुख-दुःख वेदत एक।
नरक गमन भी एक ही, मोक्ष जाय जीव एक॥ ६९॥

यदि जीव तू है एकला, तो तज सब परभाव।
ध्यावो आत्मा ज्ञानमय, शीघ्र मोक्ष सुख पाय॥ ७०॥

पाप तत्त्व को पाप तो, जाने जग सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहें अनुभवी बुध कोई॥ ७१॥

लोह बेड़ी बन्धन करे, यही स्वर्ण का धर्म।
जानि शुभाशुभ दूर कर, यह ज्ञानी का मर्म॥ ७२॥

यदि तुझ मन निर्ग्रन्थ है, तो तू है निर्ग्रन्थ।
जब पावे निर्ग्रन्थता, तब पावे शिवपन्थ॥ ७३॥

ज्यों बीज में है बड़ प्रगट, बड़ में बीज लखात।
त्यों ही देह में देव वह, जो त्रिलोक का नाथ॥ ७४॥

जो जिन है सो मैं हि हूँ, कर अनुभव निर्भ्रान्त।
हे योगी! शिव हेतु तज, मन्त्र-तन्त्र विभ्रान्त॥ ७५॥

द्वि-त्रि-चार-अरु पाँच छह सात पाँच और चार।
नव गुण युक्त परमात्मा, कर तू यह निराधार॥ ७६॥

दो तजकर दो गुण गहे, रहे आत्म-रस लीन।
शीघ्र लहे निर्वाण पद, यह कहते प्रभु-जिन॥ ७७॥

त्रय तजकर त्रय गुण गहे, निज़ में करे निवास।
शाश्वत सुख के पात्र वे, जिनवर करे प्रकाश॥ ७८॥

कषाय संज्ञा चार तज, जो गहते गुण चार।
हे जीव! निज रूप जान तू, होय पुनीत अपार॥ ७९॥

दस विरहित दस के सहित, दस गुण से संयुक्त।
निश्चय से जीव जान यह, कहते श्री जिनभूप॥ ८०॥

आत्मा दर्शन ज्ञान है, आत्मा चारित्र जान।
आत्मा संयम शील तप, आत्मा प्रत्याख्यान॥ ८१॥

जो जाने निज आत्म को, पर त्यागे निर्भ्रान्त।
यही सत्य संन्यास है, भाषे श्री जिन नाथ॥ ८२॥

रत्नत्रय युत जीव ही, उत्तम तीर्थ पवित्र।
हे योगी! शिव हेतु हित, तन्त्र-मन्त्र नहिं मित्र॥ ८३॥

दर्शन सो निज देखना, ज्ञान जो विमल महान।
पुनि-पुनि आतम भावना, सो चारित्र प्रमाण॥ ८४॥

जहाँ चेतन तहाँ सकल गुण, यह सर्वज्ञ वदन्त।
इस कारण सब योगिजन! शुद्ध आतम जानन्त॥ ८५॥

एकाकी इन्द्रिय रहित, करि योग त्रय शुद्ध।
निज आत्म को जानकर, शीघ्र लहो शिवसुख॥ ८६॥

बन्ध-मोक्ष के पक्ष से, निश्चय तू बन्ध जाय।
रमे सहज निज रूप में, तो शिव सुख को पाय॥ ८७॥

सम्यग्दृष्टि जीव का, दुर्गति गमन न होय।
यद्यपि जाय तो दोष नहिं, पूर्व कर्म क्षय होय॥ ८८॥

रमें जो आत्मस्वरूप में, तजकर सब व्यवहार।
सम्यग्दृष्टि जीव वह, शीघ्र होय भवपार॥ ८९॥

जो सम्यक्त्व प्रधान बुध, वही त्रिलोक प्रधान।
पावे केवलज्ञान झट, शाश्वत सौख्य निधान॥ ९०॥

अजरामर बहुगुण निधि, निज में स्थित होय।
कर्मबन्ध नव नहिं करे, पूर्व बद्ध क्षय होय॥ ९१॥

पंकज रह जल मध्य में, जल से लिप्त न होय।
रहत लीन निज रूप में, कर्म लिप्त नहिं सोय॥ ९२॥

शम सुख में लवलीन जो, करते निज अभ्यास।
करके निश्चय कर्म क्षय, लहे शीघ्र शिववास॥ ९३॥

पुरुषाकार पवित्र अति, देखो आतम राम।
निर्मय तेजोमय अरु, अनन्त गुणों का धाम॥ ९४॥

जो जाने शुद्धात्म को, अशुचि देह से भिन्न।
ज्ञाता सो सब शास्त्र का, शाश्वत सुख में लीन॥ ९५॥

निज-पर रूप के अज्ञ जन, जो न तजे परभाव।
ज्ञाता भी सब शास्त्र का, होय न शिवपुर राव॥ ९६॥

तजि कल्पना जाल सब, परम समाधि लीन।
वेदे जिस आनन्द को, शिव सुख कहते जिन॥ ९७॥

जो पिण्डस्थ पदस्थ अरु रूपस्थ रूपातीत।
जानों ध्यान जिनोक्त ये, होवो शीघ्र पवित्र॥ ९८॥

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव।
सो सामायिक जानिये, भाषे जिनवर राव॥ ९९॥

राग-द्वेष दोऊ त्याग के, धारे समता भाव।
सो सामायिक जानिये, भाषे जिनवर राव॥ १००॥

हिंसादिक परिहार से, आत्म स्थिति को पाय।
यह दूजा चारित्र लख, पंचम गति ले जाय॥ १०१॥

मिथ्यात्वादिक परिहरण, सम्यग्दर्शन शुद्धि।
सो परिहार विशुद्धि है, करे शीघ्र शिव सिद्धि॥ १०२॥

सूक्ष्म लोभ के नाश से, सूक्ष्म जो परिणाम।
जानों सूक्ष्म चारित्र वह, जो शाश्वत सुख धाम॥ १०३ ॥

आत्मा ही अरहन्त है, निश्चय से सिद्ध जान।
आचारज उवझाय अरु, निश्चय साधु समान॥ १०४॥

वह शिव शंकर विष्णु अरु रुद्र वही है बुद्ध।
ब्रह्मा ईश्वर जिन यही, सिद्ध अनन्त अरु शुद्ध॥ १०५॥

इन लक्षण से युक्त जो, परम विदेही देव।
देहवासी इस जीव में, अरु उसमें नहिं भेद॥ १०६॥

सिद्ध हुये अरु होंयगे, हैं अब भी भगवन्त।
आतम दर्शन से हि यह, जानो होय निःशङ्क॥ १०७॥

भव भीति जिनके हृदय, 'योगीन्दु' मुनिराज।
एक चित्त हो पद रचे, निज सम्बोधन काज॥ १०८॥

समाधितन्त्र

सकल विभाव अभावकर, किया आत्मकल्यान।
परमानन्द-सुबोधमय, नमूँ सिद्ध भगवान॥ १॥
आत्मसिद्धि के मार्ग का, जिसमें सुभग विधान।
उरु समाधियुत तन्त्र का, करूँ सुगम व्याख्यान॥ २॥

नमूँ सिद्ध परमात्म को, अक्षय बोध स्वरूप।
जिन ने आत्मा आत्ममय, पर जाना पररूप॥ १॥

बिन अक्षर इच्छा वचन, सुखद जगत् विख्यात।
धारक ब्रह्मा विष्णु बुध, शिव जिन सो ही आप्त॥ २॥

चहें अतीन्द्रिय सुख उन्हें, आत्मा शुद्ध स्वरूप।
श्रुत अनुभव अनुमान से, कहूँ शक्ति अनुरूप॥ ३॥

त्रिविधिरूप सब आतमा, बहिरात्मा पद छेद।
अन्तरात्मा होयकर, परमात्म पद वेद॥ ४॥

बहिरातम भ्रम वश गिने, आत्मा तन इक रूप।
अन्तरात्म मल शोधता, परमात्मा मल मुक्त॥ ५॥

शुद्ध, स्पर्श-मल बिन प्रभू, अव्यय अज परमात्म।
ईश्वर निज उत्कृष्ट वह, परमेष्ठी परमात्म॥ ६॥

आत्म ज्ञान से हो विमुख, इन्द्रिय से बहिरात्म।
आत्मा को तनमय समझ, तन ही गिने निजात्म॥ ७॥

तिर्यक में तिर्यञ्च गिन, नर तन में नर मान।
देव देह को देव लख, करे मूढ़ पहिचान॥ ८॥

नारक तन में नारकी, पर नहीं यह चैतन्य।
है अनन्त धी शक्तियुत, अचल स्वानुभवगम्य॥ ९॥

जैसे निज की देह में, आत्म-कल्पना होय।
वैसे ही पर-देह में, चेतनता संजोय॥ १०॥

कहै देह को आत्मा, नहीं स्व-पर पहचान।
विभ्रमवश तन में करे, सुत-तियादि का ज्ञान॥ ११॥

इस भ्रम से अज्ञानमय, जमते दृढ़ संस्कार।
यों मोही भव-भव करें, तन में निज निर्धार॥ १२॥

देहबुद्धिजन आत्म का, तन से करें सम्बन्ध।
आत्मबुद्धि नर स्वात्म का, तन से तजे सम्बन्ध॥ १३॥

जब तन में निज कल्पना, 'मम सुत-तिय' यह भाव।
परिग्रह माने आपनो, हाय! जगत् दुर्भाव॥ १४॥

जग में दुःख का मूल है, तन में निज का ज्ञान।
यह तज विषय-विरक्त हो, लो निजात्म में स्थान॥ १५॥

इन्द्रिय-विषय विमुग्ध हो, उनको हितकर जान।
'मैं आत्मा हूँ' नहीं लखा, भूल गया निज-भान॥ १६॥

वाहिर वचन विलास तज, तज अन्तर मन भोग।
है परमात्म प्रकाश का, थोड़े में यह योग॥ १७॥

रूप मुझे जो दीखता, वह तो जड़ अनजान।
जो जाने नहीं दीखता, बोलूँ किससे बान॥ १८॥

अन्य मुझे उपदेश दे, मैं उपदेशूँ अन्य।
यह मम चेष्टा मत्तसम, मैं अविकल्प अनन्य॥ १९॥

बाह्य पदार्थ नहीं ग्रहे, नहीं छोड़े निजभाव।
सबको जानेमात्र वह, स्वानुभूति से ध्याव॥ २०॥

करें स्तम्भ में पुरुष की, भ्रान्ति यथा अनजान।
त्यों भ्रमवश तन आदि में, कर लेता निजभान॥ २१॥

भ्रम तज नर उस स्तम्भ में, नहीं होता हैरान।
त्यों तनादि में भ्रम हटे, नहीं पर में निजभान॥ २२॥

आत्मा को ही निज गिनूँ, नहीं नारी-नर-षण्ठ।
नहीं एक या दो बहुत, मैं हूँ शुद्ध अखण्ड॥ २३॥

बोधि बिना निद्रित रहा, जगा लखा चैतन्य।
इन्द्रियबिन अव्यक्त हूँ, स्वसंवेदन गम्य॥ २४॥

जब अनुभव अपना करूँ, हों अभाव रागादि।
मैं ज्ञाता, मेरे नहीं, कोई अरि-मित्रादि॥ २५॥

जो मुझको जाने नहीं, नहीं मेरा अरि मित्र।
जो जाने मम आत्म को, नहीं शत्रु नहीं मित्र॥ २६॥

यों बहिरातम दृष्टि तज, हो अन्तर-मुख आत्म।
सर्व विकल्प विमुक्त हो, ध्यावे निज परमात्म॥ २७॥

'मैं ही वह परमात्म हूँ', हों जब दृढ़ संस्कार।
इन दृढ़ भावों से बने, निश्चय उस आकार॥ २८॥

मोही की आशा जहाँ, नहीं वैसा भय-स्थान।
जिसमें डर उस सम नहीं, निर्भय आत्म-स्थान॥ २९॥

इन्द्रिय विषय विरक्त हो, स्थिर हो निज में आत्म।
उस क्षण जो अनुभव वही, है निश्चय परमात्म॥ ३० ॥

मैं ही वह परमात्म हूँ, हूँ निज अनुभवगम्य।
मैं उपास्य अपना स्वयं, निश्चय है नहीं अन्य॥ ३१ ॥

निज में स्थित निज आत्म कर, कर मन विषायातीत।
पाता निजबल आत्म वह, परमानन्द पुनीत॥ ३२ ॥

तन से भिन्न-गिने नहीं, अव्ययरूप निजात्म।
करे उग्र तप मोक्ष नहीं, जब तक लखे न आत्म॥ ३३ ॥

भेदज्ञान बल है जहाँ, प्रगट आत्म आह्लाद।
हो तप दुष्कर घोर पर, होता नहीं विषाद॥ ३४ ॥

चञ्चल चित्त लहे न जब, राग रु द्वेष हिलोर।
आत्म-तत्त्व वह ही लखे, नहीं क्षुब्ध नर ओर॥ ३५ ॥

निश्चल मन ही तत्त्व है, चञ्चलता निज-भ्रान्ति।
स्थिर में स्थिरता राखि तज, अस्थिर मूल अशान्ति॥ ३६ ॥

हों संस्कार अज्ञानमय, निश्चय हो मन भ्रान्त।
ज्ञान संस्कृत मन करे, स्वयं तत्त्व विश्रान्ति॥ ३७ ॥

चञ्चल-मन गिनता सदा, मान और अपमान।
निश्चल-मन देता नहीं, तिरस्कार पर ध्यान॥ ३८ ॥

मोह-दृष्टि से जब जगे, मुनि को राग रु द्वेष।
स्वस्थ-भावना आत्म से, मिटे क्षणिक उद्वेग॥ ३९ ॥

हे मुनि! तन से प्रेम यदि, धारो भेद-विज्ञान।
चिन्मय-तन से प्रेम कर, तजो प्रेम अज्ञान॥ ४० ॥

आत्मभ्रान्ति से दुःख हो, आत्म-ज्ञान से शान्त।
इस बिन शान्ति न हो भले, कर ले तप दुर्दान्त॥ ४१॥

तन तन्मय ही चाहता, सुन्दर-तन सुर-भोग।
ज्ञानी चाहे छूटना, विषय-भोग संयोग॥ ४२॥

स्व से च्युत, पर-मुग्ध नर, बँधता, पर-सङ्ग आप।
पर से च्युत, निज-मुग्ध बुध, हरे कर्म-सन्ताप॥ ४३॥

दिखते त्रय तन चिह्न को, मूढ़ कहे निजरूप।
ज्ञानी मानें आपको, वचन बिना चिद्रूप॥ ४४॥

आत्मविज्ञ यद्यपि गिने, जाने तन-जिय भिन्न।
पर विभ्रम संस्कारवश, पड़े भ्राँति में खिन्न॥ ४५॥

जो दिखते चेतन नहीं, चेतन गोचर नाहिं।
रोष-तोष किससे करूँ, हूँ तटस्थ निज माँहि॥ ४६॥

बाहर से मोही करे, अन्दर अन्तर-आत्म।
दृढ़ अनुभववाला नहीं, करे ग्रहण और त्याग॥ ४७॥

जोड़े मन सङ्ग आत्मा, वचन-काय से मुक्त।
वचन-काय व्यवहार में, जोड़े न मन, हो मुक्त॥ ४८॥

मूढ़ रति पर में करे, धरे जगत् विश्वास।
स्वात्म-दृष्टि कैसे करे?, जग में रति विश्वास॥ ४९॥

आत्मज्ञान बिन कार्य कुछ, मन में थिर नहीं होय।
कारणवश यदि कुछ करे, अनासक्ति वहाँ जोय॥ ५०॥

इन्द्रिय से जो कुछ प्रगट, मम स्वरूप है नाहिं।
'मैं हूँ आनन्द ज्योति प्रभु', भासे अन्दर माँहि॥ ५१॥

बाहर सुख भासे प्रथम, दुःख भासे निज माँहि।
बाहर दुःख, निजमाँहि सुख, भासे अनुभवी माँहि॥ ५२॥

कथन पृच्छना, कामना, तत्परता बढ़ जाय।
ज्ञानमय हो परिणमन, मिथ्याबुद्धि नशाय॥ ५३॥

तन-वच तन्मय मूढ चित, जुड़े वचन-तन संग।
भ्रान्ति रहित तन-वचन में, चित को गिने असंग॥ ५४॥

इन्द्रिय-विषयों में न कुछ, आत्म-लाभ की बात।
तो भी मूढ़ अज्ञानवश, रमता इनके साथ॥ ५५॥

मोही मुग्ध कुयोनि में, है अनादि से सुप्त।
जागे तो पर को गिने आत्मा होकर मुग्ध॥ ५६॥

हो सुव्यवस्थित आत्म में, निज काया जड़ जान।
पर काया में भी करे, जड़ की ही पहिचान॥ ५७॥

कहूँ ना कहूँ मूढजन, नहीं जाने निजरूप।
समझाने का श्रम वृथा, खोना समय अनूप॥ ५८॥

समझाना चाहूँ जिसे, वह नहीं मेरा अर्थ।
नहीं अन्य से ग्राह्य मैं, क्यों समझाऊँ व्यर्थ?॥ ५९॥

आवृत अन्तर ज्योति हो, बाह्य विषय में तुष्ट।
जागृत जग-कौतुक तजे, अन्दर से सन्तुष्ट॥ ६०॥

काया को होती नहीं, सुख-दुःख की अनुभूति।
पोषण-शोषण यत्न से, करते व्यर्थ कुबुद्धि॥ ६१॥

'हैं मेरे मन-वचन-तन' - यही बुद्धि संसार।
इनके भेद-अभ्यास से, होते भविजन पार॥ ६२॥

मोटा कपड़ा पहनकर, मानें नहीं तन पुष्ट।
त्यों बुध तन की पुष्टि से, गिने न आत्मा पुष्ट॥ ६३॥

वस्त्र जीर्ण से जीर्ण तन, माने नहीं बुधिवान।
त्यों न जीर्ण तन से गिनें, जीर्ण आत्म मतिमान॥ ६४॥

वस्त्र फटे माने नहीं, बुद्धिमान तन-नाश।
त्यों तन-नाश से, बुधजन गिनते नहीं विनाश॥ ६५॥

रक्त वस्त्र से नहीं गिनें, बुधजन तन को लाल।
रक्त देह से ज्ञानीजन, गिने न चेतन लाल॥ ६६॥

स्पंदित जग दिखता जिसे, अक्रिय जड़ अनभोग।
वही प्रशम-रस प्राप्त हो, उसे शान्ति का योग॥ ६७॥

देहरूपी वस्त्र से, आवृत ज्ञान-शरीर।
यह रहस्य जाने बिना, भोगे चिर भव-पीर॥ ६८॥

अणु के योग-वियोग में, देह समानाकार।
एकक्षेत्र लख आत्मा, माने देहाकार॥ ६९॥

'मैं गोरा स्थूल नहीं' - ये सब तन के रूप।
आत्मा निश्चय नित्य है, केवल ज्ञानस्वरूप॥ ७०॥

चित में निश्चल धारणा, उसे मुक्ति का योग।
जिसे न निश्चल धारणा, शाश्वत मुक्ति-वियोग॥ ७१॥

लोक-संग से वच-प्रवृति, वच से चञ्चल चित्त।
फिर विकल्प, फिर क्षुब्ध मन, मुनिजन होंय निवृत्त॥ ७२॥

जन अनात्मदर्शी करें, ग्राम-अरण्य निवास।
आत्मदृष्टि करते सदा, निज में निज का वास॥ ७३॥

आत्मबुद्धि ही देह में, देहान्तर का मूल।
आत्मबुद्धि जब आत्म में, हो तन ही निर्मूल॥ ७४॥

आत्मा ही भव-हेतु है, आत्मा ही निर्वाण।
यों निश्चय से आत्म का, आत्मा ही गुरु जान॥ ७५॥

आत्मबुद्धि है देह में, जिसकी प्रबल दुरन्त।
वह तन-परिजन मरण से, होता अति भयवन्त॥ ७६॥

आत्मबुद्धि हो आत्म में, निर्भय तजता देह।
वस्त्र पलटने सम गिनें, तन-गति नहीं सन्देह॥ ७७॥

जो सोता व्यवहार में, वह जागे निजकार्य।
जो जागे व्यवहार में, रुचे न आतम-कार्य॥ ७८॥

अन्तर देखे आतमा, बाहर देखे देह।
भेदज्ञान अभ्यास जब, दृढ़ हो बने विदेह॥ ७९॥

ज्ञानीजन को जग प्रथम, भासे मत्त समान।
फिर अभ्यास विशेष से, दिखे काष्ठ-पाषाण॥ ८०॥

सुने बहुत आतम-कथा, मुँह से कहता आप।
किन्तु भिन्न-अनुभूति बिन, नहीं मुक्ति का लाभ॥ ८१॥

आत्मा तन से भिन्न गिन, करे सतत अभ्यास।
जिससे तन का स्वप्न में, हो न कभी विश्वास॥ ८२॥

व्रत-अव्रत से पुण्य-पाप, मोक्ष उभय का नाश।
अव्रतसम व्रत भी तजो, यदि मोक्ष की आश॥ ८३॥

हिंसादिक को छोड़कर, होय अहिंसा निष्ठ।
राग व्रतों का भी तजे, हो चैतन्य प्रविष्ठ॥ ८४॥

अन्तर्जल्प क्रिया लिये, विविध कल्पना-जाल।
हो समूल निर्मूल तो, मोक्ष होय तत्काल॥ ८५॥

करें अव्रती व्रत-ग्रहण, व्रती ज्ञान में लीन।
फिर हों केवलज्ञानयुत, बनें सिद्ध स्वाधीन॥ ८६॥

लिङ्ग देह आश्रित दिखे, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह लिङ्ग का, कभी न होंय विदेह॥ ८७॥

जाति देह आश्रित कही, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह जाति का, सदा मुक्ति संदेह॥ ८८॥

जाति-लिङ्ग से मोक्षपद, आगम-आग्रह वान।
नहीं पावे वे आत्म का, परम सुपद निर्वाण॥ ८९॥

बुध तन-त्याग विराग-हित, होते भोग निवृत्त।
मोही उनसे द्वेष कर, रहते भोग प्रवृत्त॥ ९०॥

यथा पंगु की दृष्टि का करे, ज्यों अन्धे में आरोप।
तथा भेदविज्ञान बिन, तन में आत्मारोप॥ ९१॥

पंगु अन्ध की दृष्टि का, बुधजन जानें भेद।
त्यों तन-आत्मा का करें, ज्ञानी अन्तर छेद॥ ९२॥

निद्रित अरु उन्मत्त को, सब जग माने भ्रान्त।
अन्तर-दृष्टि को दिखे, सब जग मोहाक्रान्त॥ ९३॥

हो बहिरातम शास्त्र-पटु, हो जाग्रत, नहीं मुक्त।
निद्रित हो उन्मत्त हो, ज्ञाता कर्म-विमुक्त॥ ९४॥

जहाँ बुद्धि हो मग्न वहीं, हो श्रद्धा निष्पन्न।
हो श्रद्धा जिसकी जहाँ, वहीं पर तन्मय मन॥ ९५॥

जहाँ नहीं मति-मग्नता, श्रद्धा का भी लोप।
श्रद्धा बिन कैसे बने, चित्त-स्थिरता योग॥ ९६॥

जैसे दीप-संयोग से, वाती बनती दीप।
त्यों परमात्मा ध्यान से, परमात्मा हो जीव॥ ९७॥

निज़ात्म के ध्यान से, स्वयं बने प्रभु आप।
बाँस रगड से बाँस में, स्वयं प्रगट हो आग॥ ९८॥

भेदाभेद स्वरूप का, सतत चले अभ्यास।
मिले अवाची पद स्वयं, प्रत्यावर्तन नाश॥ ९९॥

पञ्चभूत से चेतना, यत्न-साध्य नहीं मोक्ष।
योगी को अतएव नहीं, कहीं कष्ट का योग॥ १००॥

देह-नाश के स्वप्न में, यथा न निज़ का नाश।
जागृत देह-वियोग में, तथा आत्म अविनाश॥ १०१॥

दुःख-सन्निधि में नहीं टिके, अदुःख भावित ज्ञान।
दृढ़तर भेद-विज्ञान का, अतः नहीं अवसान॥ १०२॥

राग-द्वेष के यत्न से, हो वायु सञ्चार।
वायु है तनयन्त्र की, सञ्चालन आधार॥ १०३॥

मूढ़ अक्षमय आत्म गिन, भोगे दुःख सन्ताप।
सुधी तजे यह मान्यता, पावे शिवपद आप॥ १०४॥

करे समाधितन्त्र का, आत्मनिष्ठ हो ध्यान।
अहंकार-ममकार तज, जगे शान्ति सुख ज्ञान॥ १०५॥

इष्टोपदेश

परमब्रह्म परमात्मा, पूर्ण ज्ञानघन-लीन।
वंदों परमानन्दमय, कर्म विभाव-विहीन॥ १॥

पूज्यपाद मुनिराज को, नमन करूँ मनलाय।
स्वात्म-सम्पदा के निमित्त, टीका करूँ बनाय॥ २॥

प्रगटा सहज स्वभाव निज, हुए कर्म-अरि नाश।
ज्ञानरूप परमातम को, प्रणमूँ मिले प्रकाश॥ १॥

उपादान के योग से, उपल कनक हो जाय।
निज द्रव्यादि चतुष्कवश, शुद्ध आत्मपद पाय॥ २॥

मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक धूप।
व्रत-पालन से स्वर्ग गति, अव्रत दुर्गति कूप॥ ३॥

जिन भावों से मुक्तिपद, कौन कठिन है।
वहन कर दो कोश जो, कठिन कोश क्या अर्ध॥ ४॥

भोगें सुरगण स्वर्ग में, अनुपमेय सुख-भोग।
निरातङ्क चिरकाल तक, हो अनन्य उपभोग॥ ५॥

सुख-दुःख केवल देह की, मात्र वासना जान।
करें भोग भी विपत्ति में, व्याकुल रोग-समान॥ ६॥

मोहकर्म के उदय से, नहीं स्वरूप का ज्ञान।
ज्यों मद से उन्मत्त नर, खो देता सब भान॥ ७॥

तन धन घर तिय मित्र अरि, पुत्र आदि सब अन्य।
स्व से भिन्न हैं सर्वथा, माने मूढ़ अनन्य॥ ८॥

चहुँदिशि से आकर विहग, रैन बसे तरु-डाल।
उड़ प्रातः निज कार्यवश, यही जगतजन चाल॥ ९॥

त्रास दिया तब त्रस्त अब, क्यों हन्ता पर कोप?।
अपराधी भी स्वयं झुके, हो जब दण्ड-प्रयोग॥ १०॥

राग-द्वेष रस्सी बँधा, भव-सर घूमे आप।
आत्म-भ्रान्तिवश आप ही, सह महा सन्ताप॥ ११॥

विपदा एक टले नहीं, बाट बहुत-सी जोय।
रहट बँधा घटकूप में, कभी न खाली होय॥ १२॥

अर्जन रक्षण है कठिन, फिर भी सत्वर नाश।
रे! धनादि का सुख यथा, घृत से ज्वर ना नाश॥ १३॥

कष्ट अन्य के देखता, पर अपनी सुध नाहिं।
तरु पर बैठा नर कहे, हिरण जले वन माँहि॥ १४॥

आयु-क्षय, धन-वृद्धि का, कारण जानो काल।
धन प्राणों से प्रिय लगे, अतः धनिक बेहाल॥ १५॥

निर्धन धन चाहे कहे, करूँ पुण्य दूँ दान।
कीच लिपे पर मानता, मूढ़ किया मैं स्नान॥ १६॥

भोगार्जन दुःखद महा, प्राप्ति समय अतृप्ति।
भोग-त्याग के समय कष्ट, सुधी छोड़ आसक्ति॥ १७॥

हो जाते शुचि भी अशुचि, जिसको छूकर अर्थ।
काया है अति विघ्नमय, उस हित भोग अनर्थ॥ १८॥

करें आत्म-उपकार जो, उनसे तन-अपकार।
जो उपकारक देह के, उनसे आत्म-विकार॥ १९॥

चिन्तामणि-सा दिव्यमणि, और काँच के टूक।
सम्भव है सब ध्यान से, किसे मान दें बुद्ध?॥ २०॥

निज अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान।
लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान॥ २१॥

करं मन की एकाग्रता, इन्द्रिय-विषय मिटाय।
रुके वृत्ति स्वच्छन्दता, निज में निज को ध्याय॥ २२॥

जड़ से जड़ता ही मिले, ज्ञानी से निज ज्ञान।
जो कुछ जिसके पास वह, करे उसी का दान॥ २३॥

निज में निज को चिन्तवे, टले परीषह लक्ष।
हो आस्रव अवरोध अरु, जागे निर्जर कक्ष॥ २४॥

'मैं घट का कर्ता' यही, करे द्वैत को सिद्ध।
ध्यान-ध्याता-ध्येय-में, द्वैत सर्वदा अस्त॥ २५॥

मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय।
यातें गाढ़ प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय॥ २६॥

मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगी गम्य।
संयोगज देहादि सब, मुझसे पूर्ण अगम्य॥ २७॥

देहादिक संयोग से, होते दुःख संदोह।
मन वच तन सम्बन्ध को, मन वच तन से छोड़॥ २८॥

किसका भय जब अमर मैं, व्याधि बिना क्या पीड़?।
बाल-वृद्ध-यौवन नहीं, यह पुद्गल की भीड़॥ २९॥

पुनः पुनः भोगे सभी, पुद्गल मोहाधीन।
क्या चाहूँ उच्छिष्ट को, मैं ज्ञानी अक्षीण॥ ३०॥

जीव, जीव का हित करे; कर्म, कर्म की वृद्धि।
निज-बल सत्ता सब चहें, को न चहे निज रिद्धि॥ ३१॥

अतः प्रगट देहादिका, मूढ़ करत उपकार।
सज्जनवत् बन यह तज, जिय कर निज उपकार॥ ३२॥

गुरु उपदेशाभ्यास से, निज-पर भेदविज्ञान।
स्वसंवेदन बल करे, अनुभव मुक्ति महान॥ ३३॥

निज-हित अभिलाषी स्वयं, निज-हित ज्ञायक आप।
निज-हित प्रेरक है स्वयं, निज-गुरु आप अमाप॥ ३४॥

अज्ञ न पावे विज्ञता, नहीं विज्ञता अज्ञ।
पर तो मात्र निमित्त है, ज्यों गति में धर्मास्ति॥ ३५॥

क्षोभरहित एकान्त में, तत्त्वज्ञान चित धाय।
सावधान हो संयमी, निज स्वरूप को भाय॥ ३६॥

ज्यों-ज्यों आतमतत्त्व में, अनुभव आता जाय।
त्यों-त्यों विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय॥ ३७॥

जब सुलभ्य भी विषय नहीं, लगें योगी को भव्य।
आता अनुभव में निकट, त्यों-त्यों उत्तम तत्त्व॥ ३८॥

इन्द्रजाल सम जग दिखे, करे आत्म-अभिलाष।
अन्य विकल्पों में करे, योगी पश्चाताप॥ ३९॥

योगी निर्जन बन बसे, चहे सदा एकान्त।
यदि प्रसंग-वश कुछ कहे, विस्मृत हो उपरान्त॥ ४०॥

देखता भी नहीं देखते, बोलत बोलत नाहिं।
दृढ़ प्रतीति आतममयी, चालत चालत नाहिं॥ ४१॥

कैसा किसका क्यों कहाँ?, आदि विकल्प विहीन।
तन को भी नहीं जानते, योगी अन्तर्लीन॥ ४२॥

जहाँ वास करने लगे, रमे उसी में चित्त।
जहाँ चित्त रमने लगे, हटे नहीं फिर प्रीत॥ ४३॥

वस्तु विशेष विकल्प को, नहीं करता मतिमान।
स्वात्म-निष्ठता से छुटे, नहीं बँधता गुणवान॥ ४४॥

पर तो पर है दुःखद है, आत्मा सुखमय आप।
योगी करते हैं अतः, निज-उपलब्धि अमाप॥ ४५॥

करता पुद्गल द्रव्य का, अज्ञ समादर आप।
तजे न चतुर्गति में अतः, पुद्गल चेतन-साथ॥ ४६॥

ग्रहण-त्याग व्यवहार बिन, जो निज में लवलीन।
योगी को हो ध्यान से, परमानन्द नवीन॥ ४७॥

साधु बहिर्दुःख में रहे, दुःख-संवेदन हीन।
करते परमानन्द से, प्रचुर कर्म प्रक्षीण॥ ४८॥

करे अविद्या-नाश वह, ज्ञान-ज्योति उत्कृष्ट।
पूछो चाहो अनुभवो, है मुमुक्षु को इष्ट॥ ४९॥

जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार।
अन्य कुछ व्याख्यान सब, याही का विस्तार॥ ५०॥

भव्य 'इष्ट-उपदेश' सुन, तजि हठ माना मान।
आत्मज्ञान-समता ग्रहे, ले अनुपम निर्वाण॥ ५१॥

परिशिष्ट

अपूर्व अवसर....

अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा,
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब।
सम्बन्धों का बंधन तीक्षण छेद कर,
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब ॥ १ ॥

उदासीन वृत्ती हो सब परभाव से,
यह तन केवल संयम हेतु होय जब।
किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,
तन में किंचित भी मूर्छा नहिं होय जब ॥ २ ॥

दर्श मोह क्षय से उपजा है बोध जो।
तन से भिन्न मात्र चेतन का ज्ञान जब॥
चरित्र-मोह का क्षय जिससे हो जायेगा।
वर्ते ऐसा निज स्वरूप का ध्यान जब ॥ ३ ॥

आत्मलीनता मन-वचन-काया योग की,
मुख्यरूप से रही देह पर्यंत जब।
भयकारी उपसर्ग परिषह हो महा,
किन्तु न होवेगा स्थिरता का अन्त जब ॥ ४ ॥

संयम ही के लिए योग की वृत्ति हो,
निज आश्रय से, जिन आज्ञा अनुसार जब।

वह प्रवृत्ति भी क्षण-क्षण घटती जाएगी,
होऊँ अन्त में निजस्वरूप में लीन जब॥ ५॥

पञ्च विषय में राग-द्वेष कुछ हो नहीं,
अरु प्रमाद से होय न मन को क्षोभ जब।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव प्रतिबन्ध बिन,
वीतलोभ को विचरूँ उदयाधीन जब॥ ६॥

क्रोध भाव के प्रति हो क्रोध स्वभावता,
मान भाव प्रति दीनभावमय मान जब।
माया के प्रति माया साक्षी भाव की,
लोभ भाव प्रति हो निर्लोभ समान जब॥ ७॥

बहु उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहिं,
वन्दे चक्री तो भी मान न होय जब।
देह जाय पर माया नहिं हो रोम में,
लोभ नहिं हो प्रबल सिद्धि निदान जब ॥ ८॥

नग्नभाव मुंडभावसहित अस्नानता,
अदन्तधोवन आदि परम प्रसिद्ध जब।
केश-रोम-नख आदि अङ्ग शृङ्गार नहिं,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ-सिद्ध जब ॥ ९॥

शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते ही स्वभाव जब।
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब॥ १०॥

एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।

अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥ ११ ॥

घोर तपश्चर्या में, तन सन्ताप नहिं,
सरस अशन में भी हो नहीं प्रसन्न मन।
रजकण या ऋद्धि वैमानिक देव की।
सबमें भासे पुद्गल एक स्वभाव जब॥ १२ ॥

ऐसे प्राप्त करूँ जय चारित्रमोह पर,
पाऊँगा तब करण अपूरव भाव जब।
क्षायिकश्रेणी पर होऊँ आरूढ़ जब,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्धस्वभाव जब॥ १३ ॥

मोह स्वयंभूरमण उदधि को तैर कर,
प्राप्त करूँगा क्षीणमोह गुणस्थान जब।
अन्य समय में पूर्णरूप वीतराग हो,
प्रगटाऊँ निज केवलज्ञान निधान जब॥ १४ ॥

चार घातिया कर्मों का क्षय हो जहाँ,
हो भवतरु का बीज समूल विनाश जब।
सकल ज्ञेय का ज्ञाता-दृष्टा मात्र हो,
कृत्यकृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जब॥ १५ ॥

चार अघाति कर्म जहाँ वर्ते प्रभो,
जली जेवरीवत् हो आकृति मात्र जब।
जिनकी स्थिति आयु कर्म आधीन है,
आयुपूर्ण हो तो मिटता तन-पात्र जब॥ १६ ॥

मन-वच-काया अरु कर्मों की वर्गणा,
जहाँ छूटे सकल पुद्गल सम्बन्ध जब।

यही अयोगी गुणस्थान तक वर्तता,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जब ॥ १७ ॥

इक परमाणु मात्र की न स्पर्शता,
पूर्ण कलङ्कविहीन अडोल स्वरूप जब।
शुद्ध निरञ्जन चेतन मूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहजपदरूप जब ॥ १८ ॥

पूर्व प्रयोगादिक कारक के योग से,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय में सुस्थित जब।
सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में,
अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जब ॥ १९ ॥

जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,
कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,
अनुभवगोचार मात्र रहा वह ज्ञान जब ॥ २० ॥

यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,
शक्तिविहीन अवस्था मनरथरूप जब।
तो भी निश्चय 'राजचन्द्र' के मन रहा,
प्रभु आज्ञा से होऊँ वही स्वरूप जब ॥ २१ ॥

भारत में उत्तरप्रदेश प्रान्त की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१वीं शती का विशुद्ध जिनायतन सङ्कुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रमुख दर्शनीय स्थल

1. कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थङ्करों की निर्वाणस्थलियाँ - कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुरी, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
2. भगवान महावीर मन्दिर
3. भगवान बाहुबली मन्दिर
4. पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केन्द्र
5. आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र
6. धन्य मुनिदशा (दिगम्बर मुनिराजों की दशा एवं चर्या)
7. आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
8. भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (हाथरस) उत्तरप्रदेश

email : pawanjain@mangalayatan.com; info@mangalayatan.com
website : www.mangalayatan.com

अध्यात्म त्रि-पाठ संग्रह